10_shambhu_alok:Layout 1 03-Oct-19 4:00 PM Page 202

आधुनिकता और संस्कृति के अंतर्संबंध

शम्भू जोशी

आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता, विज्ञान, तर्क, धर्म, धर्मनिरपेक्षता, संस्कृति, राष्ट्रवाद, परम्परा, अस्मिता, भूमण्डलीकरण आदि ऐसे पारिभाषिक शब्द हैं जो हमारे अकादमिक जगत का अनिवार्य हिस्सा बन चुके हैं। भूमण्डलीकरण के इस दौर में समाज और समय के प्रश्नों से मुठभेड़ करने वाले हर विमर्श को इनसे जूझना पड़ता है। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि इन्हें कैसे परिभाषित किया जाए और किन संदर्भों में प्रस्तुत किया जाए ताकि ये अपनी मूल भावना के साथ हमारे समय की समीक्षा के लिए भी काम आ सकें। ऐसा बहुत कम हो पाता है कि इन शब्दों के प्रयोगों को इतनी सावधानी के साथ करने से उनका अर्थ-संदर्भ स्पष्ट करते हुए अपनी बात कह दी जाए। हिंदी में वैसे ही इन पारिभाषिक शब्दों की बेहतर समझ के पाठ कम ही हैं। ऐसी स्थिति में आलोक टंडन की यह कृति एक सुकून देती है। इसमें इन शब्दों का प्रयोग पाठक को आक्रांत करने

10_shambhu_alok:Layout 1 03-Oct-19 4:00 PM Page 203

के लिए नहीं, बल्कि उनकी समझ बढ़ाने और बहस का हिस्सा बनाने में प्रयोग किया गया है।

आलोक टंडन अस्मिता को महत्त्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि इसकी संकीर्णता कई तरह के संघर्षों को जन्म देती है। अस्मिता की सतही चर्चा करके बचने का प्रयास करने के बजाय अस्मिता और उससे जुड़े सवालों को सिलसिलेवार तरीक़े से रखते हैं। प्राचीन समय से ही अस्मिता— मैं कौन हूँ?— के प्रश्न पर दुनिया के हर समाज में विचार किया गया लेकिन इसका कोई सार्वभौम जवाब मुमकिन नहीं हुआ। लेखक के अनुसार, 'व्यक्तिगत अस्मिता का प्रश्न आधुनिक युग की देन है।' (पृ. 14) इसके पहले व्यक्ति की अस्मिता समूह-अस्मिता पर आधारित थी। इसे रोचक तरीक़े से बताते हुए आलोक लिखते हैं, 'मैं कौन हूँ?' प्रश्न का उत्तर यह था कि 'मैं' किसके प्रति वफ़ादार हूँ। व्यक्ति जिस समूह के प्रति वचनबद्ध होता था, उसी से उसकी अस्मिता निर्धारित होती थी।' (पृ. 14) आधुनिक समाजों में इन समूहों के बिखरने और व्यक्ति की अवधारणा के विकास ने अस्मिता को नये तरीक़े से देखना शुरू किया गया। व्यक्तिवाद ने व्यक्ति को समूह से स्वतंत्रता दी, साथ ही उसे व्यक्ति के स्वयं के साथ संबंधों पर भी ज़ोर दिया। यहाँ आकर अस्मिता पूर्व-निर्धारित नहीं रहती, बल्कि सृजित हो जाती है। दूसरे अर्थों में, आप अपनी अस्मिता बना या पुनर्परिभाषित भी कर सकते हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान था। लेकिन लेखक ने स्पष्ट किया कि इसका अर्थ संस्कृति या परम्परा का विरोध मात्र नहीं है। उससे पूरी तरह अलग हो जाना नहीं है। यह दुखद है कि बीसवीं शताब्दी में हुए सांस्कृतिक परिवर्तनों के तहत अस्मिता-निर्माण का मतलब अपनी संस्कृति के नकार से लिया गया। लेखक ने इसे 'स्थायी स्व का अभाव (डिस्लोकेशन या डिसेंटरिंग ऑफ़ सब्जेक्ट) या 'अस्मिता का उत्तर-आधुनिक प्रारूप' कहा है।

अस्मिता और अन्यता (2018)
आलोक टंडन
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पेपरबैक
मूल्य : 395 रु., पृष्ठ : 182

आगे अस्मिता के तीन प्रत्ययों (ज्ञानोदयीय, सामाजिक एवं उत्तर-आधुनिक) की चर्चा की गयी है (पृ. 16-17) तीनों अवधारणाओं को स्पष्ट कर लेखक इनकी कमियों का भी उल्लेख करते हुए अपना मत रखते हैं कि अस्मिता का एक आवश्यक सामाजिक आयाम भी होता है (पृ. 18) अतः अस्मिता के दो आयाम हो जाते हैं— एक व्यक्ति-विशिष्ट, दूसरा सामाजिक। इसी कारण अस्मिता व अन्यता पूरक हो जाते हैं क्योंकि अस्मिताएँ सामाजिक दायरे में सांस्कृतिक मध्यस्थता द्वारा ही पहचानी जाती हैं। (पृ. 19)

इस सैद्धांतिक पृष्ठभूमि में सवाल उठता है कि फिर सांस्कृतिक अस्मिताएँ एक चुनौती के रूप में क्यों उठ खड़ी हो रही हैं? इसका जवाब भूमण्डलीकरण से ख़ास तौर पर जुड़ता है, क्योंकि उसके कारण व्यक्ति का दोहरा विस्थापन होता है— एक ओर जन्म स्थान से, दूसरी ओर मान्यताओं, समूह और संस्कृति से। (पृ. 20) यही विस्थापन उसे ऐसी अस्मिताओं से जुड़ाव की ओर ले जाता है जो उसे कई बार पुनरुत्थानवाद, आतंकवाद (पृ. 21) में फँसा देती हैं। लेखक ने अस्मिता-विमर्श के एक मुख्य मुद्दे की ओर ध्यान दिलाते हुए बताया कि जिन सामाजिक संबंधों में अस्मिता बनती है, वे संबंध दरअसल शक्ति-संबंध भी होते हैं। इसलिए इन पर ग़ैर-बराबरी, ऊँच-नीच के स्तरीकृत संबंध का

समीक्षा

10_shambhu_alok:Layout 1 03-Oct-19 4:00 PM Page 204

प्रभाव होता है। समाज में संसाधन-आबंटन में इन्हीं शक्ति-संबंधों के आधार पर विशेषाधिकार, शोषण, दमन, बहिष्करण, हाशियाकरण की स्थितियाँ बनती हैं। (पृ. 22)

अस्मिता का अपनी पहचान से गहरा नाता होता है इसलिए इसकी राजनीति किसी अस्मिता से जुड़े वर्ग को बेहतर स्थिति तो अवश्य प्रदान करती है परंतु वह उसकी अस्मिता को अतिक्रमित नहीं कर पाती। क्योंकि राजनीति के लिए उसकी अस्मिता बनी रहनी ज़रूरी है। आलोक ने लिखा भी है, 'सबसे बड़ी समस्या यह है कि अस्मितावादी दलित राजनीति उसी दलित पहचान को और अधिक मजबूत बनाती है जिसके परे जाना उसका मूल उद्देश्य था।' (पृ. 23)।

लेखक ने अस्मिताओं के टकराव के हल के रूप में सर्वसमावेशीवाद (एसीमिलेशनिज़म), बहुसंस्कृतिवाद (मल्टी-कल्चरिज़म), अंतर्संस्कृतिवाद (इंटरकल्चरिज़म) और परा-संस्कृतिवाद (ट्रांसकल्चरलिज़म) की चर्चा की है। पहले दो वादों की तुलना में वे अंतर्संस्कृतिवाद को ज़्यादा व्यावहारिक बताते हैं, परंतु उसकी कमियों की ओर इशारा करते हुए उन्होंने परासंस्कृतिवाद को ज़्यादा प्रासंगिक बताया है, क्योंकि लेखक के अनुसार 'परासांस्कृतिक भिन्नता अपनी संरचना में ही अन्यता के साथ संघर्ष के स्थान पर सह-अस्तित्व में जीती है ... अलगाव नहीं, लेन-देन, अंतर्क्रिया और समाकलन को बढ़ावा देती है।' (पृ. 26) परासंस्कृतिवाद की प्रासंगिकता लेखक के अनुसार अधिक है, परंतु वह भी ज़्यादा विस्तार एवं उदाहरण सहित व्याख्या की अपेक्षा करता है। व्यक्ति द्वारा स्थानीय एवं वैश्विक अस्मिता का एक साथ पालन किस प्रकार किया जा सकता है, उनका अतिक्रमण कब-कैसे किया जा सकता है— ये यह सवाल अधिक गहरे विश्लेषण की माँग करते हैं।

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए लेखक ने सैमुअल पी. हटिंग्टन की पुस्तक *द क्लैश ऑफ़ सिविलाइजेशन ऐंड द रिमेकिंग ऑफ वर्ल्ड ऑर्डर* (1996) का उल्लेख किया है। इस पुस्तक का मूल तर्क था कि सभ्यताएँ संघर्ष का केंद्र होंगी। राष्ट्रीय राज्यों के बीच टकराव सांस्कृतिक एवं सभ्यतागत कारकों से अधिक प्रभावित होंगे। (पृ. 27) लेखक ने इस विचार की विशेषताओं और कमियों का उल्लेख करते हुए स्पष्ट किया है कि यह विचार 'अति-सरलीकरण का शिकार है और वास्तविक ऐतिहासिक और वर्तमान संघर्षों के विश्लेषण में हमारी ज़्यादा मदद नहीं करता।' (पृ. 32) वे रेखांकित करते हैं कि तकनीक और पूँजी के साथ संस्कृति भी आती है। संघर्ष इसी बात से उत्पन्न होता है कि तकनीक और पूँजी के साथ आयी यह आधुनिक संस्कृति, देशज संस्कृति के नकार या हीनताबोध को जन्म देती है। लेखक संकेत करते हैं कि इससे निपटने का हल है संस्कृति के प्रति नज़रिये को सही रूप देना। वस्तुत: संस्कृति कोई स्थिर वस्तु न हो कर समयानुसार विकसनशील है। आवश्यक नहीं है कि संस्कृतियाँ आपस में टकराएँ ही। अत: ज़रूरत है कि इन्हीं सांस्कृतिक भिन्नताओं में आपसी संवाद हो ताकि एक-दूसरे को समझने, जानने और अंतर्क्रिया के अवसर मिलें, आपस में विश्वास और सम्मान का माहौल बने। साभ्यतिक संघर्ष से मुक्ति इसी में सम्भव है। (पृ. 33)

जब लेखक साभ्यतिक संघर्ष का उल्लेख करते हैं तो इसकी मुक्ति संवाद— या कहना चाहिए अंतर्साभ्यतिक— में ही देखते हैं। वे अंतर्साभ्यतिक संवाद को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, 'इसका वास्तविक अर्थ दोनों पक्षों के सामान्यजनों के बीच संवाद ही है।' यह संवाद एक-दूसरे के प्रति अज्ञान, दुराग्रह और पूर्वाग्रहों को दूर करने का सशक्त माध्यम हो सकता है। इसके ज़रिये एक सभ्यता के लोग दूसरी सभ्यता के लोगों के संवाद कर एक-दूसरे के प्रति विद्यमान शकों, भिन्नताओं, पूर्वाग्रहों को दूर करने का प्रयास करते हैं। इसका उद्देश्य मनुष्यता के स्तर पर एक बेहतर समाज निर्माण करना है। इसका यह मतलब क़तई नहीं है कि सभी लोग एक जैसे हों बल्कि सभी अपनी भिन्नताओं के साथ एक-दूसरे से सम्मान, स्वतंत्रता एवं न्याय की भावना से जुड़े रहे। इस संवाद की प्रक्रिया में हर सभ्यता का अपना आत्मविश्लेषण करना और दूसरी सभ्यताओं की खूबियों को अपनाना व उनकी बुराइयों से बचना भी है। लेखक अंतर्साभ्यतिक संवाद के लिए कुछ पूर्व-शर्तों (पृ. 36) का भी उल्लेख करते हैं।

10_shambhu_alok:Layout 1 03-Oct-19 4:00 PM Page 205

इसी कड़ी में वे भारतीय अनुभवों का उल्लेख करते हुए भारतीय पुनर्जागरण का ज़िक्र करते हैं। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन ने जब आज़ादी दिलाई तब जिस संविधान को अपनाया वह एक तरह से अंतर्साभ्यतिक संवाद का ही रूप था। लेखक स्पष्ट करते हैं कि भूमण्डलीकरण के दौर में इस संवाद को बचाए रखने की ज़रूरत है। यह भी देखने की ज़रूरत है कि भौंडी नक़ल और नक़लचीपन कभी भी किसी सभ्यता के लिए अच्छा विकल्प नहीं है।

लेखक ने भूमण्डलीकरण के दौर में जिन ज्वलंत मुद्दों पर हमारा ध्यान आकर्षित किया है वह महत्त्वपूर्ण है लेकिन विकल्प के रूप में जिस 'अंतर्साभ्यतिक संवाद' का उल्लेख किया है, वह आदर्श रूप में तो बड़ा आकर्षक है परंतु उसकी स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तावित नहीं की गयी है। केवल यह कह देना कि लोगों के बीच संवाद एक बेहतर उपाय है, इतना काफ़ी नहीं है। एक ऐसे समय में जब वैश्विक स्तर पर राष्ट्रवाद, नागरिकता, आप्रवासी संबंधी मुद्दे हर प्रमुख देश को वैश्विक स्तर पर परेशान किये हुए हैं, वहाँ यह बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि इस अंतर्साभ्यतिक संवाद की पहल किसके द्वारा होगी? सरकारों द्वारा नागरिकों के जीवन के हर पहलू पर नज़र रखी जा रही है, उनकी निजी ज़िंदगी में दख़ल दिया जा रहा है, ऐसी स्थिति में इस संवाद का स्वरूप क्या और कैसा होगा— यह एक प्रमुख प्रश्न है। लोकतंत्र का अर्थ एक तरह से सरकार पर निर्भरता होता जा रहा है और समाज अपनी पहल से हाथ खींच रहा है। ऐसी स्थिति में यह संवाद किस स्थिति तक वास्तविक होगा, इसे स्पष्ट किया जाना ज़रूरी है। सरकारों के विभिन्न स्वरूपों (तानाशाही, लोकतंत्र, फ़ौजी तानाशाही आदि) के बीच संवाद का स्वरूप क्या होगा, यह भी विचारणीय है। यहाँ इन सब बातों का उल्लेख करने का मक़सद लोगों की संवाद-क्षमता को कमतर आँकना नहीं बल्कि वर्तमान परिस्थितियों में संवाद की सम्भावनाओं की ओर इंगित करना है। इस बात में कोई संदेह नहीं है कि जनता जब मुखर होती है तब देश के भीतर सत्ता भी झुकाई जा सकती है। जर्मनी का एकीकरण इसी तरह के संवाद का बेहतरीन उदाहरण है।

लेखक ने भूमण्डलीकरण के दौर में जिन ज्वलंत मुद्दों पर हमारा ध्यान आकर्षित किया है वह महत्त्वपूर्ण है लेकिन विकल्प के रूप में जिस 'अंतर्साभ्यतिक संवाद' का उल्लेख किया है, वह आदर्श रूप में तो बड़ा आकर्षक है परंतु उसकी स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तावित नहीं की गयी है। केवल यह कह देना कि लोगों के बीच संवाद एक बेहतर उपाय है, इतना काफ़ी नहीं है। एक ऐसे समय में जब वैश्विक स्तर पर राष्ट्रवाद, नागरिकता, अप्रवासी संबंधी मुद्दे हर प्रमुख देश को वैश्विक स्तर पर परेशान किये हुए हैं, वहाँ यह बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि इस अंतर्साभ्यतिक संवाद की पहल किसके द्वारा होगी?

लेखक ने भारतीय संदर्भ में राष्ट्रवाद की चर्चा करते हुए इसकी व्यापक भूमिका बताई है। उनका कहना है कि राष्ट्रवाद की इस चर्चा में हमें कुछ मूल बातों का ध्यान रखना चाहिए कि क्या राष्ट्रवाद और देशभक्ति एक ही है या अलग, राष्ट्रवाद का क्या एक ही प्रारूप है या अलग-अलग, देशद्रोह का अर्थ क्या है या यह केवल दमन का आधार है, क्या राष्ट्रवाद का विकल्प राष्ट्रवाद की अलग धारणा है या राष्ट्रवाद का त्याग? (पृ. 103-104) ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो वास्तव में राष्ट्रवाद संबंधी बहस का हिस्सा होने ही चाहिए। लेखक के अनुसार राष्ट्रवाद एक स्वरूप का नहीं है, इसके कई स्वरूप हैं। राष्ट्रवाद व देशभक्ति में अंतर है। राष्ट्रवाद की अवधारणा कई बार

10_shambhu_alok:Layout 1 03-Oct-19 4:00 PM Page 206

मनुष्यता के प्रति किये गये जघन्य अपराधों की गवाह रही है। मसलन, यहूदी जनसंहार। दूसरी तरफ़ लेखक ने यह भी प्रस्तावित किया है कि राष्ट्रवाद से उत्पन्न राष्ट्र-राज्य की अवधारणा ने कई ऐसे काम भी किये हैं जो आर्थिक ध्रुवीकरण एवं निजी कम्पनियों के सामने मनुष्य (नागरिक) को बचाए हुए है। जैसे, मानवाधिकार का सवाल। लेखक का मत है कि 'भले ही भूमण्डलीकरण के दबाव में राष्ट्र-राज्यों की ताक़त कुछ कम हो गयी हो, राष्ट्र-राज्यों का अंत कभी नहीं होने वाला। (पृ. 105) यहाँ विचारणीय है कि राष्ट्र-राज्य ने भले ही मानवीय पक्षों को बचाने के लिए कार्य किया हो, परंतु व्यवहार में तो उसके बने रहने एवं नीति-निर्माण में बहुराष्ट्रीय कंपनियों एवं अंतर्राष्ट्रीय ताक़तों की भूमिका से इंकार नहीं किया जा सकता है। भारतीय संदर्भ में इसका उदाहरण देखें तो किसी भी पार्टी की सरकार हो, आर्थिक मुद्दों पर उनका नज़रिया एक ही रहता है। कुछ फेरबदल कर हर अलग सरकार कमोबेश एक ही आर्थिक एजेंडा लागू करती है। ऐसे समय में राष्ट्र-राज्य को क्लीन चिट देना ख़तरे से ख़ाली नहीं कहा जा सकता है। इसलिए लेखक ने सर्वसमावेशी अवधारणा को समाहित करने वाले एक उदार राष्ट्रवाद का विचार रखा है। भारतीय संदर्भ में इस अवधारणा का अर्थ 'संविधान में प्रदत्त सभी नागरिकों के समान अधिकार' (पृ. 105) की स्वीकृति है।

लेखक सांस्कृतिक बहुलता और धर्मनिरपेक्षता की बहस के संदर्भ में इन दोनों सम्प्रत्ययों की पड़ताल करते हैं। चार्ल्स टेलर के विमर्श का उल्लेख करते हुए आधुनिक युरोपीय एवं पश्चिमी समाजों में इन्हें ले कर चलने वाली बहसों को बताते हैं। उनके अनुसार सांस्कृतिक बहुलतावाद एवं धर्मनिरपेक्षतावाद के बीच सामंजस्य ही सही रास्ता है। इनमें से किसी एक ही पक्ष पर निर्भरता समस्या के हल के लिए काफ़ी नहीं है।

धर्म भारतीय संदर्भ में काफ़ी प्रभावशाली तत्त्व रहा है। 'मनुष्य की सामाजिक मुक्ति में धर्म की सकारात्मक या नकारात्मक भूमिका' आज भी विवाद का विषय रही है। लेखक ने मार्क्स, गाँधी व आम्बेडकर के नज़रिये से इस विषय पर प्रकाश डाला है क्योंकि मार्क्स ने धर्म को अस्वीकार किया, गाँधी ने स्वीकार किया और आम्बेडकर ने एक धर्म की आलोचना एवं दूसरे धर्म को स्वीकार किया। लेखक सामाजिक मुक्ति एवं धर्म को पहले ही परिभाषित करते हुए कहते हैं कि इस चर्चा में धर्म का तात्पर्य 'मानव समाज में स्थापित धर्मों से है, किसी निरपेक्ष, वायवीय, निरी सैद्धांतिक आध्यात्मिकता या नैतिकता से नहीं है' (पृ. 83) और 'सामाजिक मुक्ति की अवधारणा का केंद्र मनुष्य को उसकी सामाजिक ग़ुलामी से छुटकारा दिलाना है। इसका उद्देश्य उन सारी संरचनाओं को प्रश्नांकित कर बदलने का मार्ग सुझाना है जो किन्हीं आधारों (धर्म, वर्ग, जाति, लिंग, उपनिवेशवाद आदि) पर मनुष्य को मनुष्य की ही दासता स्वीकार करने पर बाध्य करती हैं। (पृ. 83)

मार्क्स के धर्म संबंधी विचारों को उद्धृत करते हुए लेखक ने सामान्य चर्चा से अलग हट कर रेखांकित किया है कि मार्क्स ने धर्म के बारे में 'एक भौतिक ऐतिहासिक समझ विकसित करने का प्रयास' (पृ. 85) किया है। लेखक के अनुसार मार्क्स के धर्म संबंधी विचारों की सीमाएँ हैं। वे धर्म की मनो-सामाजिक भूमिका एवं अस्मिता व सामूहिकता प्रदान करने की भावना (पृ. 86) को पहचान नहीं सके। गाँधी के विचारों में धर्म केंद्रीय स्थान रखता है। उनकी सबसे बड़ी ख़ूबी है कि वे धर्म को स्वीकारते भी हैं और साथ ही उसी समय उससे टकराते भी हैं। हिंदू धर्म की ख़ूबियों के कारण वे उससे आजीवन जुड़े रहे लेकिन उम्र भर उसमें व्याप्त बाह्याडम्बरों, कुरीतियों के ख़िलाफ़ संघर्षरत भी रहे। उन्होंने धर्मों के अपने अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला कि सारे धर्म मनुष्यता की भलाई को ही केंद्र में रखते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इस दृष्टि को संस्थागत धर्म के चंगुल से बचाया जाए। जिस धार्मिक— जिसे आध्यात्मिक कहना ज़्यादा मुफ़ीद होगा और आध्यात्मिकता का उनका अपना अलग अर्थ भी था— मूल भाव को वे सब धर्मों का केंद्र मानते थे, उसी के आधार पर वे धर्मांधता से भी लड़ते थे। ऐसा नहीं है कि उनकी इस दृष्टि की सीमाएँ नहीं थीं, फिर भी धर्म की

10_shambhu_alok:Layout 1 03-Oct-19 4:00 PM Page 207

मुक्तिकामी चेतना का प्रत्यक्ष दर्शन गाँधी में अवश्य दिखता है। आम्बेडकर अपनी विचार-प्रक्रिया में धर्म को नकारते नहीं है बल्कि 'वे तो उनके साथ खड़े हैं जो आधुनिक जीवन में धर्म को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं।' (पृ. 93) वह भारत के समस्त धर्मों का अध्ययन कर बौद्ध धर्म स्वीकारते हैं, ऐसा करते हुए भी वह बौद्ध धर्म की आलोचना करने से पीछे नहीं रहते हैं। उसकी युगानुकूल व्याख्या करते हुए एक नया स्वरूप देने का प्रयास करते हैं। जिस सामाजिक मुक्ति का स्वप्न वह देखते हैं, उसे बौद्ध धर्म के नये स्वरूप में जोड़ते हैं। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है फिर उनकी दृष्टि भी आलोचना से परे नहीं है। जिस सामाजिक मुक्ति की बात उन्होंने कही, उनके द्वारा प्रेरित आंदोलन केवल अस्मिता आधारित एवं सत्ता में अपनी जगह बनाने तक सीमित हो गया। उसकी मुक्तिकामिता लगभग अदृश्य ही है। फिर भी लेखक के अनुसार 'इन तीनों दिग्गजों के विचारों से पाई अंतर्दृष्टियों से अपने संघर्ष की राह' (पृ. 95) तलाशी जा सकती है।

लेखक ने धर्म एवं विज्ञान के अंतर्संबंधों पर विस्तृत चर्चा की है। उनके लिए धर्म इस चर्चा में 'संस्थागत धर्म' और विज्ञान 'एक विशिष्ट बौद्धिक उद्यम' के रूप में उपस्थित है। (पृ. 72) उन्होंने विस्तृत रूप से वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं धार्मिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए उनके बीच अंतर रेखांकित किया है। (पृ. 76-79) नरेंद्र दाभोलकर को उद्धृत करते हुए उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि 'एक विवेकशील, न्यायपूर्ण समाज की रचना के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना ज़रूरी है।' लेखक के विचारों से असहमति के कारण नहीं के बराबर हैं, परंतु जिस तरह से उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण को क्लीन चिट दी है, वह थोड़ा पक्षपातपूर्ण प्रतीत होता है। जिस वैज्ञानिक दृष्टि को वस्तुनिष्ठ माना जाता है, स्वयं भी पक्षपाती रहा है। उसका बेहतरीन उदाहरण स्त्रीवादियों द्वारा विज्ञान की तत्त्वमीमांसीय पड़ताल है। विज्ञान का भी तो अपना कोई अंधविश्वास हो सकता है?

'उत्तर-आधुनिकतावाद और विज्ञान की आलोचना' आलेख में 'सामाजिक निर्माणवाद' एवं 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण/तर्क' के बीच बहस प्रस्तुत की गयी है। इसमें सामाजिक निर्माणवाद के इतिहास को बताते हुए रेखांकित किया गया है कि वैज्ञानिक-दृष्टि एवं विज्ञान के तर्क को संशय की दृष्टि से देखा गया। लेखक ने स्थापित विज्ञान की आलोचना के अंतर्गत वैज्ञानिक ज्ञान के समाजशास्त्र की बलशाली योजना, नारीवादी आलोचना, सांस्कृतिक अध्ययन एवं उत्तर-औपनिवेशिक आलोचना को उद्धृत किया है। यह लेख भले ही विज्ञान का पक्ष लेता हुआ प्रतीत हो, परंतु अंत में एक मध्यमार्ग की वकालत करते हुए सामाजिक रचनावाद और विज्ञान के बीच का रास्ता तलाशता है। दरअसल, यह कहना काफ़ी आसान है। परंतु सैद्धांतिक तौर पर एक-दूसरे से भिन्न सिद्धांत आपस में मिल कर कैसा स्वरूप अख़्तियार करेंगे या मध्यमार्ग कैसा होगा— यह विषय विस्तृत विवेचना की माँग करता है। यह इसलिए भी ज़रूरी है कि विज्ञान की उत्तर-औपनिवेशिक आलोचना में ऐसे कई तत्त्व हैं जो स्थापित

यह लेख भले ही विज्ञान का पक्ष लेता हुआ प्रतीत हो, परंतु अंत में एक मध्यमार्ग की वकालत करते हुए सामाजिक रचनावाद और विज्ञान के बीच का रास्ता तलाशता है। दरअसल, यह कहना काफ़ी आसान है। परंतु सैद्धांतिक तौर पर एक-दूसरे से भिन्न सिद्धांत आपस में मिल कर कैसा स्वरूप अख़्तियार करेंगे या मध्यमार्ग कैसा होगा— यह विषय विस्तृत विवेचना की माँग करता है। यह इसलिए भी ज़रूरी है कि विज्ञान की उत्तर-औपनिवेशिक आलोचना में ऐसे कई तत्त्व हैं जो स्थापित शोषण, अन्याय को बनाए रखने में मददगार हो सकते हैं।

10_shambhu_alok:Layout 1 03-Oct-19 4:00 PM Page 208

शोषण, अन्याय को बनाए रखने में मददगार हो सकते हैं। नारीवादी आलोचना भी अंततः अस्तित्वमूलक विमर्श हैं। ये कुछ ऐसे तथ्य हैं जिन पर लेखक के अनुसार गम्भीर विमर्श अपेक्षित है।

नारीवाद एक महत्त्वपूर्ण विमर्श के रूप में अकादमिक जगत में अपनी पहचान बना चुका है। लेखक ने उत्तर-आधुनिकतावाद और नारीवाद के बीच समानता एवं अंतर को स्पष्ट करते हुए इशारा किया है कि कई बार दोनों एक-दूसरे की सैद्धांतिक ख़ूबियों का प्रयोग करते हैं, परंतु उत्तर-आधुनिकता को नारीवाद भी शंका की दृष्टि से देखता है। (पृ. 55) इसका कारण है कि उत्तर-आधुनिकता किसी भी मूल सैद्धांतिकी को अस्वीकार करती है। इसका आधार उसमें विद्यमान भेदों को देखने की दृष्टि है। उसके अनुसार एक स्त्रीवादी दृष्टि हो ही नहीं सकती इसलिए उसकी मुक्तिकामिता का दावा भी संदेह के घेरे में है। उत्तर-आधुनिकता सापेक्षिक दृष्टि में विश्वास रखता है, निरपेक्षता में नहीं। लेखक ने इससे आगे बढ़ते हुए उत्तर-आधुनिकतावाद की दो धाराओं का उल्लेख करते हुए बताया है कि इन दोनों से नारीवाद अंतर्क्रिया करता है और अलग-अलग परिणाम प्राप्त करता है। लेखक ने पेशकश की है कि 'ज़रूरत इस बात की है कि आत्म की एक वैकल्पिक संकल्पना विकसित की जाए जो दार्शनिक रूप से उपयुक्त और राजनीतिक रूप से फलदाई हो। विकेंद्रित आत्मकर्ता के इस नये सिद्धांत का एक आवश्यक अंग होगा जो उन स्थितियों को इंगित कर सके जिसमें विषयी इतिहास का निर्माण कर सके और उसके द्वारा निर्मित भी हो सके।' (पृ. 60) अपने अन्य आलेखों की तरह वे यहाँ भी मध्यम मार्ग को प्रस्तुत करते हुए उत्तर-आधुनिकतावाद और नारीवाद को एक-दूसरे से सीखने की बात कहते हैं। यहाँ स्पष्ट करना लाज़िमी है कि इस सैद्धांतिक बहस में आत्म को सर्वांग रूप में परिभाषित करने वाली देशज समस्याएँ हमारी क्या मदद कर सकती हैं। हो सकता है कि वे इस सैद्धांतिक बहस में हमारी कुछ मदद कर सकें।

लेखक ने लिव-इन-रिलेशन के बारे में सविस्तार चर्चा करते हुए वर्तमान विवाह संस्था के गुण-दोष, लिव-इन-रिलेशन के आधार और आलोचना का उल्लेख किया है। वर्तमान विवाह संस्था, विवाह में साथी की एकनिष्ठता को वे बहुत हालिया परिघटना बताते हैं। उन्होंने लिव-इन-रिलेशन को विवाह का विकल्प तो नहीं बताया, परंतु यह अवश्य कहा है कि वर्तमान विवाह संस्था की बुराइयों की चर्चा होनी चाहिए। लिव-इन-रिलेशन भी आलोचना से परे नहीं है, उसमें भी सुधार की सम्भावनाएँ है। चर्चा की जानी चाहिए कि लिव-इन-रिलेशन के साथ जो आज़ादी जुड़ी हुई है, उसके संदर्भ में क्या हमारे समाज ने वह मूल्यबोध पैदा किया है जिससे लड़के-लड़कियाँ अपनी ज़िम्मेदारी तय कर सकें।

लेखक ने ऐसे व्यक्तित्वों की चर्चा की है जिन्होंने अंतर्साभ्यतिक संवाद के दोनों रूपों— देश के भीतर और देशों के बीच पर अपना प्रभाव छोड़ा। निस्संदेह अधिकांश चर्चा देश के भीतर संवाद की है इसलिए लेखक ऐसे व्यक्तित्वों के माध्यम से अपनी चर्चा प्रस्तुत करते हैं जिन्होंने विगत सौ-सवा सौ वर्षों में भारत पर अपना प्रभाव छोड़ा है। इनमें दयानंद, विवेकानंद, गाँधी, नेहरू, आम्बेडकर प्रमुख हैं।

भारतीय नवजागरण विद्वानों के बीच विमर्श का रोचक विषय रहा है। इस नवजागरण के नायकों के विचार आज भी समीक्षा की विषयवस्तु हैं। लेखक ने दयानंद सरस्वती के धार्मिक, सामाजिक व राजनीतिक सुधारों की चर्चा करते हुए उनके ऐतिहासिक व वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उनकी महत्ता पर विचार प्रस्तुत किये हैं। 'भारत के मार्टिन लूथर' (पृ. 171) कहे जाने वाले दयानंद सरस्वती का कार्य एवं विचार निस्संदेह महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्रीय आंदोलन की पूर्वपीठिका में राष्ट्रीयता, राष्ट्र-प्रेम को उत्पन्न करने, सामाजिक सुधारों को प्राथमिकता प्रदान करने एवं धार्मिक बहसों को तर्क की कसौटी पर कसने के उनके प्रयास महत्त्वपूर्ण हैं। लेकिन लेखक ने इस बात के लिए आगाह किया है कि किस तरह उनकी दृष्टि तार्किक रही, वहाँ तक उनके विचार प्रासंगिक हैं। जिस तार्किकता के साथ वह अन्य धर्मों एवं

10_shambhu_alok:Layout 1 03-Oct-19 4:00 PM Page 209

हिंदू धर्म की पड़ताल करते हैं, वह तार्किकता वैदिक दृष्टि के समक्ष नतमस्तक हो जाते समय काम नहीं आती। दयानंद के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की समीक्षा कर उनके प्रासंगिक विचारों को लिया जा सकता है।

इसी परम्परा में लेखक ने विवेकानंद के समाज-दर्शन की प्रासंगिकता पर उनकी ऐतिहासिक परिस्थिति के आलोक में विचार किया है। उन्होंने अनुभव किया कि विवेकानंद से पहले भारतीय पुनर्जागरण की तीन-चार दिशाएँ स्पष्ट हो चुकी थीं। बकौल लेखक विवेकानंद 'भारतीय ढंग की आधुनिकता के प्रवर्तक के रूप में हमारे सामने आते हैं जिसे भारतीय परम्परा और पश्चिमी आधुनिकता, दोनों ही स्वीकार है लेकिन वे किसी के अंधभक्त भी नहीं है।' (पृ. 158) विवेकानंद ने सभी धर्मों को सच्चा मान कर साम्प्रदायिकता की समस्या को दूर किया। (पृ. 159) उनके शिक्षा संबंधी विचार भारतीय परम्परा और पश्चिमी आधुनिकता के उत्कृष्ट तत्त्वों का समन्वय हैं। उनके भारतीय स्त्रियों के उत्थान हेतु विचार आज भी कई मायनों में प्रासंगिक हैं। लेखक के अनुसार विवेकानंद समाज-सुधारक और 'वेदांती समाजवादी' कहे जा सकते हैं। (पृ. 163) उनके लिए भारतीय परम्परा में बहुत कुछ श्रेष्ठ था तो पश्चिमी परम्परा से भी बहुत कुछ सीखा जा सकता था। 'राष्ट्र पुनर्निर्माणवादी' (पृ. 164) के रूप में उनका योगदान अविस्मरणीय है। वस्तुतः विवेकानंद के विचारों को संदर्भ से काटकर हिंदू पुनरुत्थानवादी घोषित किये जाने को उनके कुपाठ के रूप में देखना चाहिए।

भारतीय पुनर्जागरण के साथ-साथ भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में भी आधुनिकता की बहस बराबर बनी रही है। लेखक उन दो व्यक्तित्वों— नेहरू एवं आम्बेडकर— को अपना विषय बनाते हैं जिन पर कम चर्चा की जाती है। इन दोनों व्यक्तित्वों के बीच समानता और असमानता पर विचार कर उनके अवदान पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। यह आलेख इस मायने में बेहतरीन है कि सिलसिलेवार तरीक़े से इन दोनों के एक को दूसरे से कमतर या श्रेष्ठ बताने की बजाय उनके विचारों के सार को सिलसिलेवार रूप से रखता है। लेखक का विचार है कि दोनों ही आधुनिकता से प्रभावित थे, लेकिन जहाँ नेहरू ने इसका उपयोग 'औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध संघर्ष और स्वतंत्रता के बाद एक मज़बूत लोकतांत्रिक समाजवादी राष्ट्र-राज्य की स्थापना के लिए किया वहीं आम्बेडकर ने हिंदू धर्म को ही अपना मुख्य निशाना बनाया। (पृ. 127) 'आम्बेडकर ने न्यायपूर्ण समाज के लिए हिंदू धर्म की परम्परा से संघर्ष की अहमियत समझी उतनी नेहरू ने नहीं।' (पृ. 127) स्वतंत्र भारत के इन दो व्यक्तित्वों के बीच विचार, समानता, असमानता एवं प्रासंगिकता के नज़रिये से यह आलेख मददगार है। भारत में स्वतंत्रता आंदोलन, आधुनिकता की बहस में गाँधी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

> गाँधी की विशेषता कही जा सकती है कि वे स्त्री-विमर्श की नयी परिधि खींचते हैं। पुरुष केंद्रित नारी विमर्श की आलोचना करते हुए समता आधारित स्त्री-विमर्श खड़ा करते हैं। लेखक का विचार है कि गाँधी 'उन आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों को बदलने की बात नहीं करते जो इस शक्ति (पुरुष-वर्चस्व) का स्रोत है।' (पृ. 154) यह कथन पुनर्विचार की माँग करता है क्योंकि आर्थिक व सामाजिक बदलाव को जिस तरीक़े से गाँधी ने बदलने की पुरजोर कोशिश की, वह अपने आप में उनका महत्त्वपूर्ण अवदान है।

लेखक ने गाँधी का विश्लेषण परम्परा व आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में किया है। इसके अनुसार गाँधी की विशेषता अहिंसा को नकारात्मक परिभाषा से आगे ले जाकर सकारात्मक परिभाषा के रूप में बताना था। (पृ. 132) गाँधी ने परम्परा में संशोधन करते हुए अहिंसा को सामाजिक न्याय का

सशक्त हथियार बनाया। (पृ. 133) स्वराज की उनकी अवधारणा भी पहले के विचारकों से अलग थी और सत्याग्रह का विचार अनूठा। *हिंद स्वराज* का सम्पूर्ण सार एक मानवोचित सभ्यता का निर्माण कहा जाना चाहिए। गाँधी की प्रासंगिकता यह है कि वह आज हमारे सामने प्रस्तुत सांस्कृतिक संकट को समझने एवं उससे निपटने का एक उपाय प्रस्तावित करते हैं जो एकमात्र चाहे न हो परंतु एक सशक्त उपाय अवश्य है। सत्याग्रह, सर्वधर्म-समभाव, अपनी परम्परा के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि, संकीर्ण राष्ट्रवाद का विरोध ऐसे विचार हैं जिनकी प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है।

वर्तमान समय में गाँधी को स्त्री-विरोधी साबित करने की होड़-सी लगी हुई है। उनके विचारों को स्त्री-उन्नति विरोधी बताकर स्त्री को दोयम दर्जे में रखने का आरोप लगाया जाता है। लेखक ने इस विषय को उठा कर स्त्री-सशक्तीकरण के बारे में गाँधी दृष्टि को प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार गाँधी के अनुसार नारी 'अपने आप में ही समाज-परिवर्तन की सक्रिय सचेत एजेंट है।' (पृ. 147) सक्रिय राजनीतिक जीवन में उनकी भागीदारी गाँधी की महत्त्वपूर्ण देन है। गाँधी की विशेषता कही जा सकती है कि वे स्त्री-विमर्श की नयी परिधि खींचते हैं। पुरुष केंद्रित नारी विमर्श की आलोचना करते हुए समता आधारित स्त्री-विमर्श खड़ा करते हैं। लेखक का विचार है कि गाँधी 'उन आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों को बदलने की बात नहीं करते जो इस शक्ति (पुरुष-वर्चस्व) का स्रोत है।' (पृ. 154) यह कथन पुनर्विचार की माँग करता है क्योंकि आर्थिक व सामाजिक बदलाव को जिस तरीक़े से गाँधी ने बदलने की पुरज़ोर कोशिश की, वह अपने आप में उनका महत्त्वपूर्ण अवदान है।

वर्तमान में बहस के मुद्दों को पूरी ईमानदारी व बेबाकी के साथ हमारे सामने रखने के लिए यह पुस्तक महत्त्वपूर्ण है। लेखक की बार-बार चिंता आधुनिकता, विज्ञान, धर्म एवं भूमण्डलीकरण के आपसी संबंधों एवं उनसे उत्पन्न परिणामों की है। वे आग्रह करते हैं कि इनके मूल को जाने बिना आज प्रस्तुत सवालों से मुठभेड़ सम्भव नहीं है। इसलिए आलोक टंडन की यह रचना आधुनिकता एवं उसके विमर्श से उत्पन्न वैकल्पिक आधुनिकता, उससे जुड़े आयामों को प्रस्तुत करने का सार्थक प्रयास है।